Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. IV, Issue No. VII, July-2012, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था

AN INTERNATIONALLY INDEXED PEER REVIEWED & REFEREED JOURNAL

प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था

Dr. Shriphal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan

सार – *शिक्षा का प्रारम्भ कब और किस प्रकार हुआ, यह ज्ञात करना उतना ही कठिन है, जितना यह जानना कि प्रथम मनुष्य या जीवन की उत्पत्ति कब हुई थी। अतः शिक्षा को किसी निश्चित समय पर घटने वाली घटना या किसी व्यक्ति व समूह द्वारा आरम्भ किया गया कार्य कहकर एक निश्चि परिध में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। ‘शिक्षा शब्द संस्कृत के ‘शिक्षधातु से बना है, जिसके अर्थ हैं - अधिगम, अध्ययन और ज्ञान ग्रहण। वेदों में भी शिक्षा का कई अर्थों में प्रयोग हु आ है, जैसे - ज्ञान, बोध, विद्या आदि। शिक्षा शब्द के कई अर्थ किये जाते हैं। विभिन्न शिक्षा शास्त्री इस शब्द की विविध प्रकार से परिभाषा एवं व्याख्या करते हैं।*

शिक्षा शब्द का अनुवाद आंग्ल भाषा में Education है। यह शब्द लेटिन भाषा के Education से निकला है, जिसका अर्थ है - ‘सीखना या प्रशिक्षण। यह शब्द Educare से भी निकाला जा सकता है, जिसका अर्थ है ‘विकास करना । अतः शिक्षा वह कला है जो बालक के शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास में सहयोग प्रदान करती है।

---------------------------------x---------------------------------

प्रस्तावना

आधुनिक शिक्षा शास्त्रियाओं की भाँति प्राचीन भारतीय शिक्षा शास्त्रियों ने भी ‘शिक्षा’ शब्द का प्रयोग विस्तृत और संकुचित दोनों अर्थों में किया है। विस्तृत अर्थ में अपने को सभ्य और उन्नत बनाना ही शिक्षा है तथा यह कार्य यावज्जीवन चलता रहता है। एक विचारक का कथन है कि ‘विप्र आजीवन विद्यार्थी रहता है। एक चिकित्सक को जितने ज्ञान की आवश्यक होती है उतना उसे किसी विद्यालय से प्राप्त नहीं होता है, बल्कि वह जितने व्यक्तियों की चिकित्सा करता है, उतना ही उसका ज्ञान विस्तृत होता जाता है। यह बात चिकित्सक पर ही नहीं अपितु अध्यापक, वकील, चित्रकार और मूर्तिकार पर भी लागू होती है। संकुचित अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षण से है जो प्रत्येक युवा अपने व्यावसायिक जीवन में प्रविष्ट होने के पूर्व ग्रहण करता है।

शिक्षा का महत्त्व

भारतीय समज में प्राचीन काल से ही शिक्षा का प्रभूत महत्त्व रहा है। मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के माध्यम से ही शिक्षा सम्भव माना जाता रहा है। यह सही है कि शास्त्र और विवेक से शिक्षा सम्पन होती है और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का उदय होता है। इसलिए ज्ञानोद्भव का आधार-तत्त्व शास्त्र और विवेक माना गया है। ज्ञान अथवा विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है और मनुष्य शिल्प में निपुणता प्राप्त करता है। ज्ञान के आलोक से मनुष्य का जीवन आलौकित होता है। विद्या मानव को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाती है। संस्कृत के नीति श्लोक में उचित कहा गया है कि, ‘विद्या से विनम्रता, विनम्रता से योग्यता, योग्यता से धन, धन से धर्म और धर्म से सुख की प्राप्ति होती है। वस्तुतः ज्ञान अथवा विद्या से मनुष्य का कर्म और आचरण दोनों ही परिष्कृत और दिव्य हो जाते हैं तथा वह ज्ञान सम्पन्न होकर देवतुल्य हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि स्वाध्याय और प्रवचन का अनुगमन करने से मनुष्य का मन एकाग्र हो जाता है, फलस्वरूप वह स्वतंत्र हो जाता है। इससे उसे नित्य धन की प्राप्ति होती है, सुखद निद्रा आती है। वह अपना चिकित्सक बन जाता है। उसकी इन्द्रियाँ संयमित हो जाती है। वह प्रज्ञावान् हो जाता है, यशस्वी हो जाता है और संसार के अभ्युदय में लग जाता है। जो लोक अनेक प्रकार की विद्याओं का अध्ययन करते हैं, वे देवताओं को प्रसन्न करते हैं और अपनी कामनाएँ पूर्ण करते हैं। अतः विद्या की सर्वश्रेष्ठता स्वयंसिद्ध है।

शिक्षा प्रकाश का स्रोत है, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करता है। वेदों का प्रसिद्ध सूत्र ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’ इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य अनादिकाल से ही ‘अन्धकार से प्रकाश’ अर्थात् अज्ञान से ज्ञान की ओर आने के लिए उत्सुक रहा है। अतः जीवन की सहायिका शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह अपने अभीष्ट तक पहुँच सकता है।

एक विचारक का कथन है कि, 'ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है और उसे सही कार्यों की ओर प्रवृत्त करता है। महाभारत का कथन है कि 'विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं होता।' विद्या से हमें जिस ज्योति की प्राप्ति होती है वह संषयों का उच्छे दन करती है, कठिनाइयों को दूर हटाती है और जीवन के वास्तविक महत्त्व को समझने योग्य बनाती है। विद्या से मनुष्य की बुद्धि, बल, कार्यक्षमता और योग्यता में वृद्धि होती है। विद्या और ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित होता है। ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया है। विद्या माता की तरह मनुष्य की रक्षा करती है, पिता की भाँति हित कार्य में सन्नध रहती है, तथा पत्नी की भाँति दुखों को समाप्त करती है और प्रसन्नता प्रदान करती है। जीवन के समस्त लौकिक सुखों की प्राप्ति विद्या के माध्यम से ही सम्भव मानी गयी है। यही नहीं, विद्या से अमरत्व और स्वर्ग की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार शिक्षा इहलोक और परलोक दोनों में हमारे पुरूषार्थों को सिद्धि करती है।

विद्या के बिना मनुष्य का व्यक्तित्व संकुचित और जीवन बोझिल होता है। अज्ञानता अन्धकार के समान है। अतः अज्ञानी मनुष्य का जीवन अन्धकारमय है। उसके कर्मों की कोई महत्ता नहीं होती है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अक्षर को जानने और न जानने वाले दो नों कर्म करते हैं, किन्तु जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से संयुक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है। निश्चय ही, ज्ञान के बिना मनुष्य जीवन और जगत के रहस्यों को समझ पाने में असमर्थ होता है। इसलिए कहा गया है कि जिसे ज्ञान की ज्योति (प्रकाश) उपलब्ध नहीं, वह नेत्रहीन (अन्धा) है और नरक के अन्धकार में जा गिरता है। शिक्षा से जो प्रकाश, परिज्ञान और ने तृत्व प्राप्त होता है, उससे मनुष्य का पूर्ण रूपान्तर हो जाता है। इसके संयोग से बुद्धि प्र खर, बोध-क्षमता विकसित और विवेक संपुष्ट होता है। ऋग्वेद का कथन है कि, 'यदि कोई मनुष्य दूसरे से बड़ा है तो इसलिए नहीं कि उसके पास कोई अतिरिक्त नेत्र या हाथ होते हैं, बल्कि वह इसलिए बड़ा है कि उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा के द्वारा अधिक प्रखर और पूर्ण होते हैं'। भर्तहरि का कथन है कि, 'विद्याहीन मनुष्य पशुवत् है।' शिक्षा से रहित मनुष्य का जीवन व्यर्थ और मूल्यरहित है। ज्ञानी (ब्राह्मण) श्रेष्ठ और ज्येष्ठ माना जाता है। अत्रि का कथन है कि, ब्राह्मण जन्म से ब्राह्मण होता है किन्तु उसके समस्त संस्कार होने पर वह उच्च होकर 'द्विज' तथा विद्या प्राप्त कर लेने पर 'विप्र' और इन तीनों के समन्वित होने पर 'श्रोतिय' कहा जाता है। शिक्षा ही मनुष्य को संतुलित और श्रेष्ठ जीवन प्रदान करती है। अतः मनुष्य का आत्मिक विकास, सांसारिकता से आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति, गुण-अवगुण को परखने की शक्ति और उचित-अनुचित के विश्लेषण की वृत्ति शिक्षा से ही संभव नही है।

किसी राष्ट्र का आदर्श भी उसकी शिक्षण संस्थाओं से ही प्रतिबिम्बित होता है। इनसे हमें राष्ट्रीय सभ्यता की आत्मा की पहचान में सहायता मिलती है। प्राचीन काल में यह बात विशेषतया यथार्थ थी क्योंकि उस काल में उदीयमान संतति को राष्ट्रीय परम्पराओं के रंग में रंगने और तद्नुकूल आचरण के लिए प्रोत्साहित करने के प्रधान केन्द्र विद्यालय ही थी। इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि प्राचीन काल में कागज और मुद्रण कला अज्ञात थी। अतः जनसम्पर्क आधुनिक काल की भांति समाचार-पत्रों पत्रिकाओं या सस्ती और लोकप्रिय पुस्तकों से नहीं बल्कि विद्यालयों के विद्यार्थियों के माध्यम से ही संभव था।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

विवेच्ययुग में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध प्राचीनकाल की भाँति अत्यन्त घनिष्ठ और आदरयुक्त था। इन दोनों का सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान था। मनु का कथन है कि द्विज बालक के दो जन्म होते हैं, इसलिउ उसे द्विज कहा जाता है। पहला जन्म माता के गर्भ से होता है और दूसरा जन्म उपनयन संस्कार से। द्वितीय जन्म जन्म ब्रह्म (ज्ञान) की प्राप्ति के लिए होता है और इस जन्म में उसकी माता गायत्री (मंत्र) होती है और पिता आचार्य होता है। कालिदास ने गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध को:गुरुवो गुरुप्रियम' कहा है। दशकुमारचरित् में गुरु की प्रशंसा की गई है और शिष्य को उसका अनुवर्ती होने का संके त दिया गया है। चीनी यात्री इत्सिंग का कथन है कि 'शिष्य गुरु के पास रात्रि के पहले और अन्तिम पहर में जाता है, उसके शरीर की मालिश करता है, वस्त्र आदि संभालकर रखता है, यदा-कदा गुरु के आवास और आँगन में झाडू लगाता है, फिर जल छानकर उसे पीने के लिए देता है। इसी प्रकार गुरु भी शिष्य के रोगग्रस्त हो जाने पर उसकी सेवा करता है, उसे औषध देता है और उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता है। लक्ष्मीधर के अनुसार शिष्य का यह कत्र्तव्य था कि वह गुरु की दिन-रात सेवा करे तथा गुरु का कत्र्तव्य था कि वह स्नेहपू र्वक शिष्य से पुत्रवत् प्रेम करे और उसकी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करे। अतः स्पष्ट है कि इस युग में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान अत्यन्त घनिष्ठ था।

शिक्षण संस्थाएँ

भारत में प्राचनी काल से ही विभिन्न प्रकार की शिक्षण संस्थाएँ चल रही हैं। प्रारम्भ में शिक्षा की व्यवस्था परिवार में ही होती थी। किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में जैसे-जैसे उलझनें बढ़ती गयी और

विशेषाध्ययन की ओर लोगों की रुचि बढ़ने लगी तथा ब्राह्मण पंडितों ने अपनी निजी पाठशालाएँ खोल लीं। कालान्तर में बौद्ध विहारों में सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं का जन्म हुआ। तत्पश्चात् हिन्दुओं ने भी बौद्धों का अनुकरण कर अपने मन्दिरों में पाठशालाएँ खोली। किन्तु विहारों के ये विश्वविद्यालय और मन्दिरों के महाविद्यालय शिक्षा के कतिपय प्रसिद्ध केन्द्रों तक ही सीमित थे। इस युग में विविध सम्प्रदायों के आचार्यों के मठों में भी ऐसे छोटे-छोटे विद्यालय चलते थे, जिनमें उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। ज्ञान की ज्योति जगाये रखने में अपनी निजी पाठशालाएँ चलाने वाले स्वतन्त्र अध्यापक भी इन शिक्षण संस्थाओं में सहयोग करते थे। अतः इस युग में शिक्षा की प्रमुख संस्थाओं के रूप में प्राचीन गुरुकुल (आश्रम) के स्थान पर मठ, मन्दिर, अग्रहार और राज्य-सं रक्षित विश्वविद्यालयों का विकास हुआ।

(1) गुरुकुल-

प्राचीन काल से ही विद्यार्थी गुरु के सान्धिय में रहकर अर्थात् गुरुकुल (आश्रम) में रहकर विद्याध्ययन करते थे। छांदोग्य उपनिषद् में विद्यार्थी को 'आचार्य कुलवासी' और:अन्तेवासी' कहा गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है आचार्य के कुल या सान्धिय में वास करने वाला। विष्णु पुराण का कथन है कि प्रायः छात्र उपनयन सं स्कार के पश्चात् गृह त्यागकर गुरु के सानिध्य में जाता था और यहीं गुरुकुल में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करता था। मनु के अनुसार भी छात्र गुरुकुल में रहकर विद्याग्रहण करता था। महाकाव्यों के अनुसार भारद्वाज, वाल्मीकि, मार्कण्डेय और कण्व ऋषि के आश्रम शिक्षा के प्रधान विद्या-स्थल थे। इसी प्रकार विवेच्ययुग में भी गुरुकुल प्रणाली का सन्दर्भ मिलता है। यद्यपि इस युग में प्राचीन विशाल आश्रम सिमटकर छोटे गुरुकुलों के रूप में रह गये थे। बाणभट्ट ने कादम्बरी में गुरुकुल में ब्रहमचर्याश्रम के अन्तर्गत पारम्परिक शैक्षणिक जीवन का उल्लेख किया है तथा ज्वाली आश्रम का उदाहरण दिया है। उसने हर्षचरित में लिखा है कि वह स्वयं विद्या प्राप्ति के निमित्त अनेक वर्षों तक गुरु के आश्रम में रहा था। अरब यात्री अलबीरूनी (ग्यारहवीं सदी) भी गुरुकुल का उल्ले ख करता है। उसके अनुसार शिष्य दिन-रात गुरू की सेवा में तल्लीन रहा करता था। देवण्णभट्ट के अनुसार भी समाज में गुरुकुल की परिपाटी विद्यमान थी।

प्रत्येक गुरुकुल की एक विशिष्ट परम्परा होती थी। वह अमूर्त होते हुए भी विद्यार्थि पर प्रभाव डालती थी और वह उसे आस्ते-आस्ते आत्मसात् करता था। घर पर रहकर अध्ययन कने में जो बुराईयाँ थीं, गुरुकुल प्रणाली में उनका परिहार हो जाता था। इस प्रणाली में विद्याध्ययन में सुविधा के साथ ही पारिवारिक जीवन के लाभ भी प्राप्त हो जाते थे, क्योंकि आचार्यगण प्रायः गृहस्थ ही हुआ करते थे। आचार्य के उत्तम चरित्र के प्रत्यक्ष, व्यक्गित और सतत् सम्पर्क का बाल्य और युवाकाल में विद्यार्थी के चरित्र पर निश्चय ही बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था।

(2) मठ एवं मन्दिर

विवेच्य युग में विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों के मठ या मन्दिरों में भी विधाध्यनन होता था। इस युग में हिन्दू शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षा के केन्द्र के रूप में मठों या मन्दिरों का विकास एक नवीन परम्परा का द्योतक है। सामान्यतः इन मन्दिरों से सम्बद्ध मठों का निर्माण विभिन्न राजनीतिक शक्तियों के नाभिकीय केन्द्रों में हुआ जो एक ओर राजनीतिक अभिलाषा और ब्राहमणीकरण के प्रयासों को तथा दूसरी ओर तद्युगीन धर्म सम्प्रदायों की लोकप्रितया को अभिव्यक्त करते हैं। मठ या मन्दिरों के विद्यालय बौद्ध बिहारों से जुड़े विद्यालयों के समान ही थे। परन्तु शिक्षा केन्द्र के रूप में कोई हिन्दू मन्दिर बौद्ध मठों के स्तर तक नहीं पहुँच सका। इस प्रकार के विद्यामठ राजाओं द्वारा सं रक्षित थे। कल्हण के कश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा (नवीं सदी) ने एक वैष्णव मन्दिर का निर्माण कराया और वहीं पर सुयोग्य शिक्षकों को नियुक्त कर व्याकरण की शिक्षा की व्यवस्था की थी। इसी तरह एक दूसरे राजा यशस्कर (दसवीं सदी) ने भी एक मठ का निर्माण करवाया, जहाँ आर्य-देश के शिक्षार्थी ज्ञान की प्यास बुझाने आते थे। कश्मेन्द्र के अनुसार कश्मीर के मठों में बंगाल के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने जाते थे। कथासरित्सागर में भी मठों में विभिन्न क्षेत्रों के ब्राहमणों द्वारा निवास और संगठित जीवन-यापन का उल्लेख है। हेमचन्द्र ने भी गुजरात में ऐसे विद्यामठों का उल्ले ख किया है जो विद्या के केन्द्र थे और जिन्हें राज्य से भोजन, वस्त्र आदि का अनुदान प्राप्त था। डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार विग्रहराज चतुर्थ द्वारा स्थापित सरस्वती मन्दिर में संभवतः चाहमान साम्राज्य के सभी हिस्सों से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। इसी प्रकार परमार राजा भोज द्वारा निर्मित भोजशाला मन्दिर शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। दक्षिण भारत में भी इस तरह के विद्या-स्थलों के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन राज्य संरक्षित मठ-मन्दिरों में प्रदत्त शिक्षा का प्रमुख प्र योजन संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को त्वरितता प्रदान करना था, अतः उसका स्वरूप अधिकाधिक धर्म-दर्शन परक था। इन संस्थाओं के प्रधानों को राजा और प्रजा दोनों से पर्याप्त दान मिलते थे। जिनका व्यय उच्च धार्मिक और दार्शनिक शिक्षा के ऊपर होता था। अतः पूर्व-मध्ययुग में ये मठ-मन्दिर शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गये थे।

(3) अग्रहार-

भारत में प्राचीनकाल से ही राजा द्वारा शुभ अवसरों पर विद्वान ब्राह्मणों को किसी गाँ व में बसाकर उनके निर्वाह के लिए उस गाँव की समस्त आय दान कर दी जाती थी। इस प्रकार दान में प्राप्त गाँ को 'अग्रहार' कहा जाता था। ये प्रकृत्या उच्च शिक्षा के केन्द्र हो जाते थे। जहाँ संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों का निःशुल्क अध्यापन होता था। विवेच्य युग में ये अग्रहार शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। अग्रहार के रूप में इस प्रकार के दान किसी एक ब्राह्मण समूह या किसी संस्था को भी दिये जाते थे। हर्षचरित से विदित होता है कि बाण स्वयं प्रतिकूट नामक ब्राह्मण बस्ती में रहता था और उसने सी क्षेत्र के दक्ष लोगों के सम्पर्क में आकर शिक्षा प्राप्त की थी। कल्हण के अनुसार गोपादिल्य नामक राजा ने कई ग्रहारों का दान किया था और साथ ही उसने पुण्य देशों से पवित्र ब्राह्मणों को लोकर वश्चिक आदि अग्रहारों में बसाया था। इसी प्रकार राजा यशस्कर ने समस्त सुविधाओं से सम्पन्न पचपन अग्रहार ब्राह्मणों को दान किये थे। कथासरित्सागर और विक्रमांकदेवचरित में भी अग्रहारों का विशद् उल्लेख मिलता है। अग्रहार के रूप में गाँव दान में दिये जाने की सूचना इस युग के अनेक अभिलेखों में भी मिलती है। शिक्षा के प्रयोजन से किये जाने वाले भूमिदानों का उल्लो भी अभिलेखों में मिलता है। कल्चुरि राजा जयसिंह के एक अभिलेख में अमरेश्वर पाठशाला को भूमिदान किये जाने का उल्लेख है। ब्रहमदेय भूमि सभी प्रकार के करों से मुक्त होती थी और उक्त भूमि पर ब्राह्मण ग्रहीता स्व्यं कृषि कर सकता था अथवा कवा सकता था। इन अग्रहारों में वे दों के अतिरिक्त काव्य, व्याकरण, न्याय, मीमांसा, दण्डनीति आदि लौकिक विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था। इस तरह से अग्रहार विवेच्य युग में विद्याध्यन के प्रमुख केन्द्र बन गये।

(4) गोष्ठी या सभाएँ-

भारत में प्राचीनकाल से ही विभिन्न विद्वानों के बीच गोष्ठी या सभाएँ होती थीं, जिनमें साहित्यिक और धार्मिक परिचर्चाएँ हुआ करती थी तथा इनके माध्यम से अनेक प्रतिभाशाली विद्वान प्रकाश में आते थे। विवेच्य युग में ये विद्वद्गोष्ठियाँ अनेक विषयों से सम्बन्धित हो गई। चीनी यात्री ह्वनेसांग से विदित होता है कि राजा हर्ष ने कन्नौज में एक वृहद सभा का आयोजन किया था, जिसमें पंच भारत के अठारह राजा, तीन हजार पुरो हित, तीन हजार ब्राह्मण और निरग्रन्थ तथा नालन्दा मठ के हजारों पुरोहित या शिक्षक शामिल हुए थे। ये सभी ख्याति प्राप्त व्यक्ति थे। ह्वनेसांग ने स्वयं इस सभा की अध्यक्षता की तथा तीन बड़े सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला और कहा कि यदि कोई मेरे तर्क व सिद्धान्तों के एक शब्दा में भी सन्देह व्यक्त करता है तो मैं प्रतिद्वन्दी को क्षतिपूर्ति के लिए मेरा सिर अर्पित करने को उद्यत हूँ। बाणभट्ट के अनुसार उन दिनों अनेक विद्वगोष्ठियाँ हुआ करती थीं जिनमें विभिन्न विषयों पर चर्चाएँ चलती थीं। उसके अनुसार हर्ष के दरनबार में एक 'विद्यागोष्ठी' आयोजित की गई, जिसमें अनेक उच्च कोटि के विद्वान उपस्थित हुए और विभिन्न विषयों पर चर्चाएँ हुई। 'वीरगोष्ठी' में वीरता और शौर्य से सम्बन्धित रचनाएँ और चर्चाएँ हुआ करती थीं। हर्ष स्वयं वीरगोष्ठी में अनेक यौद्धाओं एवं उनकी गाथाएँ सुनकर बड़ा प्रसन्न होता था। 'प्रमाणगोष्ठी' में सभी विषयों की प्रमाणिकता पर विचार किया जाता था। काव्य गोष्ठी भी आयोजित की जाती थी जिसमें प्रबन्धों के विषय और रचना पर विचार किया जाता था। कादम्बरी में राजा शूद्रक द्वारा आयोजित मित्रों व पण्डितों की सभा में विभिन्न विषयों पर काव्य रचना होना बताया है। राजशेखर ने भी काव्यगोष्ठी का उल्लेख किया है तथा इसे काव्य विद्या के विभिन्न स्रोतों में से एक बताया है। अरब लेखक अलबीरूनी ने भी विभिन्न विद्वद्गोष्ठियों की चर्चा की है। अतः स्पष्ट है कि इस युग में शिक्षण संस्थाओं के रूप में गोष्ठी या सभाओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

(5) पर्यटन एवं यात्राएँ-

भारतीय प्राचीनकाल से ही भ्रमण एवं यात्राओं के शैक्षणिक लाभ से परिचित थे। विवेच्ययुग में भी वे इनसे शैक्षणिक लाभ उठाते रहे हैं। दामोदार गुप्त के अनुसार एक व्यक्ति समुद्र से घिरे हुए प्रदे शों की यात्रा करके सभी शास्त्रों के गुण या सार समझता था, तथा बदमाशों, चालबाजों एवं लोगों को धोखा देने की विद्या से परिचित होता था। उसकेअनुसार यदि एक व्यक्ति दूसरे देश की वेशभूषा, शिष्टाचार, भाषण एवं युद्धों से अनभिज्ञ है तो वह बिना सींग के बैल (पशु) के समान है। सिद्धर्शीसूरी ने भी इसी प्रकार के विचार कुछ भिन्न रूप में प्रकट किये हैं। उसके अनुसार जो मनुष्य आश्चर्य भरे देशों की यात्राएँ नहीं करता, वह कुएँ के मेढ़क के समान (कूपमण्डूक) है अर्थात् उसका ज्ञान या अनुभव बहुत ही सीमित होता है। राजशेखर के अनुसार बहुत से भारतीयों ने विदेशों की यात्राएँ की और उन्होंने वहाँ के अनुभवों की अपनी काव्य रचना के माध्यम से लोगों को सामने रखा। राजशेखर स्वयं एक परिव्राजक कवि था, जिसने बहुत सी यात्राएँ की थीं। शुक्र के अनुसार दूसरे दे शों की यात्रा या भ्रमण एक अच्छे राजा और उसके प्रशासन के लिए उपयोगी एवं आवश्यक है। अतएव स्पष्ट है कि विवेच्ययुग में पर्यटन एवं यात्राओं से भी ज्ञान अर्जित होता था।

शिक्षा के प्रमुख केन्द्र

विवेच्ययुग में बौद्ध मठ (बिहार) और हिन्दू मन्दिर प्राचीन गुरुकुलों के आधार पर विकसित हुए और शिक्षा के प्रमुख केन्द्र

बन गये। इनमें से कुछ बौद्ध महाविहारों ने विश्वविद्यालयों का स्वरूप प्राप्त कर लिया था, जिनमें न केवल बौद्ध धर्म और साहित्य की अपितु गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों की भी शिक्षा दी जाती थी। जहाँ भारत के विभिन्न प्रदेशों के विद्यार्थी ही नहीं अपितु चीन, तिब्बत, कोरिया आदि विदेशों के छात्र व विद्वान भी आकृष्ट होकर भारत आया करते थे। ये प्रमुख केन्द्र निम्न थे-

(1) नालन्दा विश्वविद्यालय-

बिहार प्रदो की राजधानी पटना से दक्षिण की ओर लगभग 80 किलोमीटर की दूरी पर प्राचीन मगध में स्थित था। इसका प्राचीन नाम 'नाल' था। जहाँ बुद्ध के प्रमुख सारिपुत्र का जन्म हुआ था। अतिप्राचीन में नालन्दा बौद्ध धर्म का केन्द्र था। किन्तु विद्या के केन्द्र के रूप में इसका अतिहास पाँचवीं सदी के मध्य से प्रारम्भ होता है, जब गुप्तवंश के सम्राट कुमारगुप्त प्रथम (415-455 ई.) ने यहाँ एक बिहार के निर्माण एवं दान से नालन्दा विश्वविद्यालय के रूप में इसकी स्थापना की थी। इसके बाद राजा हर्ष से लेकर नवीं सीद तक नालन्दा विश्वविद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त शिक्षण केन्द्र बना रहा। ह्ने नसांग के अनुसार यहाँ अनेकानेक बौद्ध विहारों का निर्माण किया गया था। नालन्दा की खुदाई में विहार प्रकाश में आये हैं जो डेढ़ किलोमीटर लम्बे क्षेत्र में फैले हुए थे। इनमें कुछ विहार कई मंजिले थे। प्रत्येक विहार में भिक्षु विद्यार्थियों के लिए अध्ययन एवं आवास के लिए कमरे थे। भोजन के लिए भव्य कक्ष थे। इत्सिंग ने यहाँ आठ विशाल व्याख्यान सभा भवन और तीन सौ कमरे निवास के लिए बताये हैं। पुस्तकालय के लिए अलग भवन था जिसे 'धर्मज्ञ' कहा जाता था, इसमें तीन इमारतें थी, जिनके नाम 'रत्नसागर', रत्नोदधि और रत्नरंजक थे। नालन्दा को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। ह्नेसांग के अनुसार इसे एक सौ गाँवों की आय और इत्सिंग के अनुसार दो सौ गाँवों की आय प्राप्त होती थी। सम्पूर्ण विश्वविद्यालय का प्रबन्धक प्रधान नियामक भिक्षु-महास्थविर होता था जिसके सहायतार्थ दो परिषदें हो ती थी, प्रथम शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए और द्वितीय सामान्य प्रबन्ध के लिए।

नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना बहुत कठिन था। प्रवेशार्थियों को पहले एक परीक्षा उत्तीर्णय करनी पड़ती थी। यह परीक्षा 'द्वार पण्डित' लेता था। इसमें केवल वे ही शिक्षर्थी उत्तीर्ण हो पाते थे जो पुरातन और नवीन दो नों प्रकार की विद्या में प्रवीण होते थे। ह्नेसांग के अनुसार परीक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था, केवल 20 या 30 प्रतिशत विद्यार्थी ही सफल हो पाते थे। यहाँ विदे शों से भी विद्यार्थी अपनी शंकाओं के समाधान के निमित्त आते थे। भिक्षुगण विनय के नियमों का कडाई से पालन करते थे। शिक्षण में ज्येष्ठ विद्यार्थी कनिष्ठ की सहायता करता था। यहाँ के विद्यार्थी समस्त भारत में आदर्श माने जाते थे। कुछ लोग नालन्दा में न पढ़कर भी वहाँ से शिक्षा प्राप्त करने का मिथ्या दावा करके गौरवान्वित हुआ करते थे और समाज में उनका भी आदर होता था। ह्नेसांग का जीवनी ले खक नालन्दा में एस हजार विद्यार्थी बताता है किन्तु स्वयं ह्नेसांग इतना ही कहता है कि वहाँ कई हजार विद्यार्थी थे। किन्तु इतना तो निश्चित है कि सातवीं सदी के मध्य में नालन्दा में पाँच हजार विद्यार्थी रहते थे। ह्नेसांग के अनुसार नालन्दा के शिक्षकों की संख्या 1,510 थी, जिनमें एक हजार दस सूत्र-निकायों में दक्ष थे और शेष पाँच सौ अन्य विषयों में दक्ष थे। इस विश्वविद्यालय का प्रधान कुलपति शीलभद्र था, जो अनेक विषयों में पारंगत था। इसके अतिरिक्त यहाँ के प्रख्यात विद्वान आचार्यों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र आदि थे। यद्यपि नालन्दा में महायान सम्प्रदाय का प्राधन्य था, परन्तु उसका पाठ्यक्रम उदार, सहिष्णु एवं धर्मनिरपेक्ष था। ह्नेसांग के जीवनी लेखक के अनुसार वहाँ वेदों के अतिरिक्त हे तु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, तन्त्र विद्या और सांख्य दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा का अनुशासन भी बहु त उत्तम था। तिब्बती साक्ष्यों के अनुसार यहाँ अनुशासन और दण्ड का कठोरता से पालन किया जाता था। ह्नेसांग के जीवनी लेखक के अनुसार इसकी स्थापना के सात सौ वर्षों के भीतर किसी ने भी बिहार के नियमों का उल्लंघन या अतिक्रमण नहीं किया था। इस प्रकार नालन्दा 11वीं सदी तक भारत का प्रधान शिक्षा केन्द्र बना रहा। किन्तु 11वीं सदी के बाद नालन्दा की अपेक्षा विक्रमशिला विश्वविद्यालय को अधिक राजाश्रय मिलने लगा, जिससे नालन्दा की कीर्ति कुछ मंद पड़ ने लगी और उसमें ह्रास के चिन्ह प्रकट होने लगे। अन्ततः 12वीं सदी के अन्त में बख्तियार खिजली के ने तृत्व में मुस्लिम आक्रमण से नालन्दा विश्वविद्यालय का विनाश हो गया।

(2) वलभी

वलभी काठियावाड़ (गुजरात) के पूर्वी किनारे पर वला नामक स्थान के पास में स्थित था। विवे च्ययुग में नालन्दा की भाँति वलभी भी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। इत्सिंग के अनुसार वलभी ज्ञान के क्षेत्र में नालन्दा के समान ही महत्त्वपूर्ण था। यहाँ अनेक विशाल बौद्ध विहार थे। ह्नेनसांग के अनुसार सातवीं सदी के मध्य में यहाँ लगभग सौ बौद्ध विहार थे जिनमें छः हजार भिक्षु पढ़ते थे। स्थिरमति और गुणमति वलभी के प्रसिद्ध विद्वान थे। नालन्दा की भाँति वलभी भी बौद्ध शिक्षा का ही केन्द्र न था। गंगा की घाटी से अनेक ब्राह्मण-पुत्र भी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। यहाँ तर्क, व्याकरण, व्यवहार, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। यहा

www.ignited.in

विश्वविद्यालय अपनी धार्मिक उदारता और बौद्धिक स्वतंत्रता के निमित्त प्रसिद्ध था। इत्सिंग के अनुसार यहाँ भारत के सभी कोनों से प्रसिद्ध एवं अपने विषय में प्रवीण विद्वान एकत्र होते थे तथा सम्भव और असम्भव सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करते थे जिस वाद-विवाद के विचार सर्वश्रेष्ठ होते थे वह बहुत प्रसिद्ध विद्वान के रूप में जाना जाता था और उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती थी। यहाँ के प्रसिद्ध विद्वानों का नाम नालन्दा की भाँति उत्तुंग द्वारों पर लिखा जाता था। इस विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। वलभी में सौ करोड़पति नागरिक थे जिनका आर्थिक सहयोग इसे प्राप्त था। मैत्रक वंश के राजाओं (480-775 ई.) ने भी इसे दान और भेंट स्वरूप समुचित धन प्रदान किया था। यहाँ के स्नातकों को भी राज्य नौकरियाँ दी जाती थीं अथवा जीविका प्रारम्भ करने के लिए उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता दी जाती थी। 12वीं सदी के पश्चात् मुस्लिम आक्रमणों के कारण इस शिक्षा केन्द्र सहायता दी जाती थी। 12वीं सदी के पश्चात् मुस्लिम आक्रमणों के कारण इस शिक्षा केन्द्र का महत्त्व बहुत कम हो गया।

(3) विक्रमशिला-

विक्रमशिला प्राचीन मगध में उत्तरी भाग में गंगा नदी के तट पर एक छोटी ही पहाड़ी पर स्थित था। इस विश्वविद्यालय की स्थापना आठवीं सदी में बंगाल के पालवंशी राजा धर्मपाल (775-800 ई.) ने की थी। जो 12वीं सदी तक शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में विख्यात रहा। यहाँ विभिन्न राजाओं ने अनेक बौद्ध मन्दिरों और विहारों का निर्माण करवाया तथा उन्हें मुक्तहस्त से दान दिया था। तिब्बती सूत्रों से ज्ञात होता है कि यहाँ अनेकानेक विद्वान थे, जिनमें बुद्ध, ज्ञानपद, रक्षित, विरोचन, जेतारि, रत्नाकर शान्ति, ज्ञानश्री मित्र, रत्नव्रज, दीपंकर और अभयंकर आदि प्रसिद्ध विद्वान थे। इनमें दीपंकर यहाँ के पण्डितों में सर्वश्रे ष्ठ थे जो 11वीं सदी में अतिश के नाम से विख्यात थे। इसने लगभग 200 ग्रन्थों की रचना की थी। यहाँ भिक्षु अध्यापक बड़ी सादगी का जीवन व्यतीत करते थे। चार भिक्षुओं पर जितना व्यय होता था। उससे अधिक एक अध्यापक को नहीं मिलात था। तारानाथ के अनुसार 11वीं सदी में विक्रमशिला में 'एक सौ साठ पण्डित और एक हजार भिक्षु स्थाई रूप से रहने वाले थे। 12वीं सदी में यहाँ 3,000 भिक्षु रहते थे। यहाँ एक अति समृद्ध और विशाल पुस्तकालय था। यहाँ देश के विभिन्न क्षेत्रों से ही नहीं अपितु विदे शों से भी छात्र विद्याध्ययन के लिए आते थे। विदेशी छात्रों में अधिकांश छात्र तिब्बत के होते थे जो बौद्ध धर्म-दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यहाँ आते थे। यहाँ का पाठ्यक्रम नालन्दा और वलभी के समान विस्तृत या उदार नहीं था। यह मुख्य रूप से व्याकरण, न्याय, तत्वज्ञान, तन्त्र विद्या और कर्मकाण्ड के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था। यहाँ के स्नातकों को समावत्र्तन के अवसर पर बंगाल के शासकों की ओर से उपाधि या प्रमाण-पत्र दिये जाते थे। विक्रमशिला विद्यापाठी का प्रबन्ध छः द्वार पण्डितों की समिति द्वारा संचालित होता था जिसका प्रधान महास्वथविर होता था। इन द्वारपण्डितों का मुख्य कार्य प्रवेशार्थी विद्यार्थियों की योग्यता की परीक्षा लेना था। इस प्रकार यहाँ का प्रबन्ध व्यवस्थित था। अन्ततः 1203 में बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में मुसलमानों ने इस विश्वविद्यालय को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

(4) ओदन्तपुरी और जगत्तला-

ओदन्तपुरी प्राचीन मगध में उस स्थान पर स्थित था, जहाँ आधुनिक विहार नामक नगर है। इसकी स्थापना पालवंश के प्रवर्तक राजा गोपाल (750-770 ई.) द्वारा की गई थी। प्रारम्भ में नालन्दा और विक्रमशिला की ख्याति के कारण ओदन्तपुरी की बहुत प्रतिष्ठा नहीं थी, किन्तु 10वीं सदी से 12वीं सदी तक यह शिक्षा का काफी महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा था और इसमें भी हजारों आचार्य और विद्यार्थी निवास करते थे। तारानाथ के अनुसार राजा महीपाल (975-1026 ई.) ओदन्तपुरी विहार के पाँच सौ भिक्षुओं और पचास धर्म कथकों की जीविका का प्रबन्ध करता था। उसने इस विहार की शाखा के रूप में उरूवास नामक विहार बनवाया था और वह वहाँ पाँच सौ सैन्धव श्रावकों के भोजन की व्यवस्था करता था। राजा रामपाल (1057-1102 ई.) के समय यहाँ एक हजार भिक्षु स्थायी रूप से रहते थे। यहाँ महायान और हीनयान दोनों सम्प्र दायों का विकास हुआ था। 12वीं सदी के अन्त (1199 ई.) में बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में मुस्लिम आक्रमण से इस विहार का भी विनाश हो गया।

जगत्तला विहार की स्थापना बंगाल के पालवं शी राजा रामपाल ने 1064 ई. में अपनी राजधानी रामावती में की थी। यह भी प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ था जहाँ से बौद्ध धर्म देश-देशान्तरों में प्रचारित हो रहा था। जगत्तला में विक्रमशिला की भाँति निपुण स्नातकों को 'पण्डित' की उपाधि से तथा श्रेष्ठतर विद्वानों को महापण्डित, उपाध्याय और आचार्य की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

(5) अन्य केन्द्र

ह्ननेसांग के अनुसार सातवीं सदी में कश्मीर में जयेन्द्र विहार, पंजाब में चिनपति और जालधंर के विहार, बिजनौर (उत्तरप्रदेश) में मतिपुर विहार, कन्नौज में भद्र विहार, आन्ध्र प्रदेश में अमरावती का विहार आदि बौद्ध विद्यापीठ भी शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। विवेच्ययुग में बौद्ध विहारों की तरह हिन्दू मन्दिर भी शिक्षा के के न्द्र के रूप में विकसित हुए। अल्तेकर के अनुसार 10वीं सदी से उच्च शिक्षा के केन्द्रों के रूप में हिन्दू-देवालयों का

विकास प्रारम्भ हो गया था। इस युग के उत्तरार्द्ध (900-1400 ई.) में दक्षिण भारत के देवालयों में ऐसे अनेक विद्यापीठ चलते थे। एक जो बम्बई राज्य के बीजापुर जिले में स्थित था। और वैदिक-शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था, दूसरा, अन्नासिरम् देवालय विद्यापीठ था जो दक्षिणी अरकाट जिले में स्थित था। तीसरा, तिरुमुक्कुदल देवालय विद्यापीठ था जो चिंगलपट जिले में स्थित था। चैथा, तिरुवोर्रियूर देवालय विद्यापीठ था जो चिंगलपाट जिले में ही स्थित था और व्याकरण की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। पाँ चवा, मलकापुरम, देवालय विद्यापीठ था जिसमें विद्यार्थीशाला और चिकित्सालय साथ-साथ चलते थे। उत्तर भारत में यद्यपि ऐसी शिक्षण संस्थाओं के विवरण नहीं मिलते तथापि अल्तेकर ने उनके अस्तित्व की संभावना व्यक्त की है। उत्तर भारत में वाराणसी (काशी), कश्मीर, धारा नगरी, अनहिलपाटन, कन्नौज और काँची भी इस युग में हिन्दू शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। अतः स्पष्ट है कि भारत में विवेच्ययुग में बौद्ध शिक्षा केन्द्रों की भाँति हिन्दू शिक्षा केन्द्र भी विकसित थे।

संदर्भ संकेत

1. यावज्जीवमघीते विप्रः।

2. विष्णु पुराण, 6/5/61; 1/19/41

3. विद्या ददाति विनयं विनयादयाति पात्रताम्। पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्म ततः सुखम्।।

4. शतपथ ब्राह्मण, 2/2/2/6

5. सुभाषित रत्न-संग्रह, पृ. 194; मुखर्जी आद.के., एन्शिएन्ट इण्डियन एज्यूके शन, पृ. 88

6. महाभारत, 12/339/6, नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।

7. ऋग्वेद, 10/7/17

8. सुभाषित रत्न संग्रह, 31/14

9. हितोपदे श, 16

10. हर्ष चरित 1/32-33

11. अल्तेकर-प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति पृ.-56

12. कौषाम्बी-प्राचीन भारत की संस्कृति एवं सभ्यता पृ. 196

13. बसु, इण्डियन टीचर्स ऑफ़ दि बुद्विस्ट सूनिवर्सिटीज पृ. 30

14. मिश्र जयशंकर, ग्यारहवी सदी का भारत पृ. 168, 177-78

Corresponding Author

Dr. Shriphal Meena*

Lecturer, Department of History, Govt. College Karauli, Rajasthan